दुर्जनसिंह

हिन्दी ADDA

मुकेश वर्मा

दुर्जनसिंह

रोज सुबह छह बजे से दुर्जनसिंह की आवाज गलियों में सुनाई पड़ने लगती है।

'...दही लो sss... मही लो sss... और sss... दूध sss...।'

उस वक्त मैं बिस्तर पर आधा सोया आधा जागा, अपाहिज सा पड़ा, उठने के मंसूबे बाँधता रहता हूँ। सुबह घूमने का। महीने में दो-तीन बार घूम भी आता हूँ। बाकी सुबहें मानसिक तैयारी में ही निकल जाया करती हैं और फिर घर गृहस्थी के इतने काम अर्राते पहाड़ की तरह सिर पर टूटने लगते हैं कि इन्हीं-किन्हीं बीच मेरा मंसूबा भुर्ता बनकर रह जाता है। ठीक दस बजे दफ्तर पहुँचना जरूरी है चाहे पृथ्वी इधर से उधर क्यों न हो जाए। साहब का सख्त आदेश है और आदेश की अवहेलना का सवाल ही नहीं उठता।

यह जो साहब हैं न, वाकई गजब का है। और साहब-लोग ज्यादा नहीं तो कम से कम थोड़े आदमी तो हुआ करते थे। लेकिन यह तो एकदम नकचढ़ा, निर्मम और निष्ठुर। उसे किसी की कोई फिक्र नहीं। मातहतों से ऐसे बरतता है जैसे सब उसके निजी नौकर हों। साफ-साफ कहता भी है कि इन लोगों की जात ही ऐसी होती है, परले दर्जे के कामचोर, हरामखोर और मक्कार। जब तक लात न लगाओ, हरकत में नहीं आते। इनके लिए कोई रियाअत, मुरब्बत की जरूरत नहीं। जितना पीटो सालों को, उतनी काम में चुस्ती आती। हर बार कहते हुए वे नई सिगरेट जला लेते। वे घंटे भर में चार सिगरेट पी जाते जिनकी कीमत चालीस रुपये करीब होती। उनके दिन भर धुआँ उड़ाने का जो खर्च है, उसमें एक चपरासी की सात दिन की तनख्वाह आराम से निकल सकती है। लेकिन साहब को इन बातों से क्या मतलब। जब भगवान ने कलेजे में आग बार रखी है तो धुआँ भी हाथ भर का निकलना चाहिए सो साहब की नाक और मुँह से तोप के गोले की तरह धकाधक छूटता रहता है! सरकारी मंदिर में अगरबत्ती नहीं सिगरेट जलती है, धुआँ-धुआँ और जिसे दुर्जन सिंह अपलक देखता रहता था।

दुर्जनसिंह नेक, परिश्रमी और आज्ञाकारी चपरासी था जिसके लिए साहब के मुँह से निकला एक भी शब्द बादशाही फरमान की तरह होता जिसकी तामिली किया जाना एक मातहत के लिए ऐसा हुक्मनामा है जिसमें किसी किस्म की हीला-साजी की गुंजाईश या गफलत की दरकार नहीं। इसलिए वह हरदम घेरे जा रहे पशु की तरह चौकन्ना रहता, शायद जरूरत से कुछ ज्यादा तत्पर और हमेशा लगभग पंजों के बल

पर व्यग्रता से चलता। ऐसे समय उसके चेहरे पर विचित्र सा सूखापन उभर आता और आँखें चौंधियाई सी लगती।

उन दिनों मैं भी आशु-लिपिक वर्ग-एक पर पदोन्नत होकर साहब का मुख्य स्टेनो बाबू बन गया। साहब के एयर-कंडीशंड चेंबर के ठीक सामने वाले बेडौल कमरे में उनका स्टाफ बैठता जिसमें गर्मियों में एक पुराना जंग खाया कूलर लग जाता जो आवाज तो इतनी करता जैसे बरफ-फैक्ट्री चल रही हो मगर ठंडक इतनी देता जो कमरे में ही कहीं बिला जाती। असर कुछ होता ही नहीं। फिर भी यह एक बड़ी नियामत थी जिसे हम पर महान गर्व और गौरव था क्योंकि दफ्तर के बाकी हिस्सों में छत पर फंदे से कसे झूलते पंखे बारह महीने एक ही दफ्तर से चलते, चाहे गर्मी हो या ठंड हो, काम का दिन या छुट्टी। लोग भी अभ्यस्त हो चुके थे। ऊपर छत पर पंखे, नीचे फर्श पर कर्मचारी। एक ही दायरे में गोल-गोल घूमते रहते। एक ही चाल से। जैसे किसी ने टोना कर दिया हो।

हमारे कमरे और साहब के चेंबर के बीच जो गलियारा था, उसमे तो न कोई कूलर और न कोई पंखा। दीमक खाई लकड़ी के लचकते स्टूल पर बैठा दुर्जनसिंह हल्के-हल्के मुस्कुराते ही रहता और बिना किसी भेद-भाव के हर आते-जाते को विनीत नमस्कार करता। यह उसकी निजी प्रसन्नता थी जिस पर उसे आत्मिक संतोष और गौरव था और जिसकी रक्षा वह सावधानी-पूर्वक करता था। उसकी विनम्रता न जाने क्यों, लोगों को खटकती थी। कारण कभी समझ में नहीं आए। कई बार लोग बौखलाकर गालियाँ देने लगते। मारपीट पर आमदा हुए। दुर्जनसिंह फिर भी ज्यों का त्यों। उत्फुल्लित मुस्कान से कहता - 'हरि इच्छा' और फिर थोड़ी गर्दन मचकाकार अगले को नमस्कार करने में जुट जाता। वह सामान्य दिनों में वर्दी पहिने रहता, ठंड में वर्दी पर एक ऊनी बनियान और वहीं स्टूल पर बैठे-बैठे मुझसे बोलता - "बड़े बाबू, आज बड़ी कड़कड़ाती ठंड है।"

उस वक्त मैं कोट में से बमुश्किल हाथ निकाल कर मिचमिचाई आँखों के ठीक नीचे चश्में के बोझ तले दबी नाक में से निकलता सुर्र-सुर्र पानी उल्टी हथेलियों से पोंछता रहता और नया कोट खरीदने की योजनाओं के कई प्रारूप बनाता और खारिज करता रहता। हर बार पैसे की कमी रोड़ा बनकर अटकती। इस राह में दुर्जनसिंह भी कोई कम

रोड़ा न था। ऐसे हर कठिन अवसर पर मौसम के बंधनों और बंदिशों से आजाद और लापरवाह उसका छरहरा बदन आँखों के सामने कूदने लगता। मन कहता - देखो एक यह है, ऐसा कोई हट्टा-कट्टा पहलवान नहीं है, दुबला पतला ही समझो। लेकिन ठंड को धता बताता है। और एक तुम हो। लाड़ के लल्ला। सारी जिंदगी छींकते-पादते निकली। जरा सी ठंड पड़ी नहीं कि नाक से पर नाले छूटने लगते। गर्मी आई कि पसीने की बदबू से मरे जानवर की तरह गंधाते हो कि कोई भला आदमी पास बैठने से गुरेज करे। यदि थोड़ा बहुत ही शरीर पर ध्यान दिया होता तो ये नौबत नहीं आती। और करना भी क्या है? कोई पहाड़ तो खोदना नहीं है। सिर्फ थोड़ी वरजिश-कसरत पर ध्यान देना है। अरे बड़ी फजर उठो। लगाओ पाँच मील की दौड़। सौ दंड चार सौ बिट्ठक। कहाँ की सर्दी और कहाँ की ठंड। लेकिन क्या करें जब अपना मन मुर्दा तो किसे दोष दें। सुबह उठने के नाम पर ही ससुरी नाम पनियाने लगती है। छींकों की ऐसी बौछार कि जैसे भूचाल, घर भर डर जाए। अब अपने बस में यही कि ऐसे ही जिंदगी निकाल लो ओर जब यमराज आएँ तो कान-खिची बकरी की तरह चुपचाप चले जाओ...। वो यमराज जब आएँ तब आएँ, अभी तो सामने के कमरे में बैठा यमराज ही जान लेने को तुला रहता है।

एकदम ऐसा खौंखिया के दौड़ता है कि काट ही न खाए। पूरे टाइम चीख-पुकार, गाली-गलौज कि तन-मन पत्तों सा थरथर काँपता। दस बजे से ही मेज पर मुक्के मारने लगता। छोटे-बड़े का कोई लिहाज नहीं। कब किसकी इज्जत का भुर्ता बना कर लत्ते सा खिड़की के बाहर फेंक दे, भगवान भी नहीं जानते। सबेरे से छोटे-बड़े, किसिम-किसिम के अधिकारी-बाबू लोग फाईलें लिए लाईन लगाए बाहर खड़े रहते। साहब एक के बाद एक को बुलाते। अधिकतम डाँटते, अधिकतर कागज फेंकते। लेकिन बड़े अफसरों के या फिर टुच्चे नेताओं के फोन आते तो यही बब्बर शेर भीगी बिल्ली बन जाता। लचक-लचक कर और लाड़ से हँस-हँस कर बातें करता म्याउँ-म्याउँ टाइप। और फोन रखते ही ऐंठ कर कुर्सी पर लद जाता। एक नई सिगरेट सुलगाता और फिर ज्यों का त्यों गुर्राने लगता।

उनका एक खास शौक देखा मैंने। वे जोरदार हुक्म के साथ कहते कि वे समय के बहुत पाबंद हैं। मतलब वे प्रत्येक काम की समयावधि तय कर देते। फिर कोई भी या कैसा

भी अधिकारी हो, उसे इस निर्धारित अवधि के भीतर झख मार कर काम करना ही पड़ता। साहब बहाने सुनने से भरपूर परहेज रखते। कामचोर अधिकारियों - कर्मचारियों - चपरासियों की खाल खींचने में विशेष प्रसन्नता का अनुभव करते। समय की पाबंदी का यह हाल कि वे बिला नागा खुद हमेशा पाँच बजे दफ्तर से उठ जाते किंतु नीचे के स्टॉफ को इतना समयावधि का काम दे जाते जिसे पूरा करने में हम लोगों को रोज रात के आठ-नौ बज जाते। वे फिर सुबह ठीक दस बजे दफ्तर में होते और उस समय उनके सामने कल का दिया गया पूरा काम टेबिल पर रखा होना चाहिए। इस काम में कोई चूका तो साहब ने सुबह का बाकी मांसाहारी नाश्ता पूरा किया। उसका शिकार नुचा-चिंथा अधमरा फर्श पर पड़ा हाय-हाय करता और साहब अच्छी खासी डकार लेकर उस घंटे की चौथी और आखिरी सिगरेट जला लेते।

ऐसे नरक में दिन रो-रो कर बीत रहे थे कि एक दिन वह किस्सा हुआ। उस दिन साहब घर जल्दी चले गए। उनके ससुर साहब आए थे जो एक जमाने में बहुत बड़े अधिकारी होते थे। रिटायर होने के बाद सरकार ने उन्हें कर्मचारियों में बढ़ती अकर्मण्यता, निष्ठाहीनता, लापरवाही और बेईमानी को रोकने के लिए कड़ी कार्यवाहियों की सिफारिश करने हेतु एक स्थायी कमेटी का अध्यक्ष बना दिया था। वे बहुत कड़क स्वभाव के थे। उनके बारे में कहा जाता है कि वे अपने जमाने में दफ्तर में हंटर लेकर बैठते थे। रोज दो-चार के चूतड़ फूटते थे लेकिन हमेशा काम सही, फिटफाट और टैम पर होता था। उनकी पुरानी शेफर्ड गाड़ी की आवाज सुनकर ही लोग ऊपर-नीचे हर जगह से थरथराने लगते थे। हालाँकि हंटर अब नहीं दिखा उनके पास। लेकिन उनकी साँप सी लपलपाती जीभ भी किसी हंटर से कम नहीं थी। मुझे उनका अच्छा-खासा अनुभव था। वे जब कभी भोपाल आते है तो डिक्टेशन के लिए मुझे जाना पड़ता। वे बूढ़े हो चुके थे लेकिन गीध की तरह नोंचती उनकी आँखें और बेहद खरखराती कठोर आवाज सिगार के अनवरत धुएँ में से साक्षात मौत जैसी दिखाई-सुनाई पड़ती। सारा खाया-पिया एक जगह सिमट जाता और शरीर लुकलुकाने-धुकधुकाने लगता। उन्होंने मेरे दाएँ कान का नाम हिंदी ओर बाएँ कान का नाम अँग्रेजी रख दिया था। जब तक मैं 'बिसेस' को विशेष नहीं लिख पाता या नहीं कह पाता, वे मेरा दायाँ कान हड़कीली उँगलियों के चमीटे में दबाए रखते। यही हाल बाएँ कान का होता जब तक मैं शश्पेंस की जगह सस्पेंस नहीं कह पाता या ऐसा ही कुछ। वे एक लाईन डिक्टेशन के

बाद एक नया सिगार पीते ओर कोई पुराना किस्सा सुनाते जिसमें लोगों की भली-भांति चमड़ी उधेड़ने या जंगलों में घेर कर जानवर मारने के दिल दहलाने वाले वर्णन होते। हर किस्से का अंतिम निष्कर्ष यकीनी तौर पर यही होता कि 'और फिर सालों की अकल ठिकाने लग गई' या ऐसी ही कोई कमीनेपन की बात।

लेकिन दुर्जनसिंह पर ऐसा कुछ नहीं गुजरा। चपरासी की जिंदगी बड़े मजे-मजे गुजर रही थी। एक हमीं थे जो ये नरक भोग रहे थे। दुर्जनसिंह का क्या, साहब चेंबर में हो या न हों, साहब के आने से पहले और दफ्तर से जाने तक हमेशा साफ धोई वर्दी में उसी स्टूल पर बैठा रहता और पुराने अखबार से पंखा झलता या मक्खियाँ उड़ाता हुआ। फाइल लाए। फाइल ले गए। मैं ही कभी कहता - 'आओ चौधरी, कूलर में बैठ लो।'

तो वह कहता - 'ना जी बड़े बाबू ना, एक दिन के आराम के लोभ से बाकी जिनगी की राह बिगड़ेगी। मन हमेशा आराम चाहेगा और आराम किस्मत में नहीं, सो जो मिला है, उसी को किस्मत कह लो और उसी को आराम मान लीजो।' फिर पिछले दिनों सुनी कोई धार्मिक कथा बड़े गद्‌गद भाव से सुनाने लगता। आध्यात्मिक आवेश की भीगी और रहस्मयी आवाज में लगभग फुसफुसाकर बोलता - 'बड़े बाबू, सच्चा कुछ नहीं, ये जो कुछ दिखाई दे रहा है न, दुख, सुख, मोह, लोभ सब माया है, उसी का धुआँ-धुआँ है, चारों ओर, अब जैसा मन को इस धुंध में जैसा सूझे वैसा करते चलो या जैसा समझो वैसा मन को धुंध में चलने दो। बस चलते जाना है, लेकिन कहीं नहीं जाना है। काल को ही छाती पर से गुजर जाना है। काल के पहिये भी धुआँ-धुआँ है। फिर मन कहाँ अटकाना है। ...कहा है न कि छाँड़िए न हिम्मत, बिसारिए न हरि नाम... जाही विधि राखे राम ताही विधि रहिए...'

मेरी समझ में ऐसी बातें कम आतीं बल्कि झुँझला ही जाता। कहाँ तो मेरे दुर्भाग्य का अंत नहीं है और दो कौड़ी का चपरासी छाती पर ज्ञान का झंडा गाड़े जा रहा है। लेकिन कुछ कह नहीं पाता। कुछ बोलूँ तो रोना पहले आता। लेकिन एक बात जरूर थी कि मैं दुर्जनसिंह का हृदय से सम्मान करता। दरअसल मेरा मन बड़ा दुरंगा है। घर के हालात पर ओर अपनी फूटी किस्मत पर जहाँ एक ओर सिर पटकता और रुआँसा रहता, वहीं जब किसी ओर के जीवन में कोई दुख, कोई धात, कोई मात देखता तो आँखें बरबस छलछला उठती हैं। आँसू भीतर ठेलने की कोशिश में मुँह अजब तरह से खिंच जाता

है। कुछ नीचे लटक जाता है और नाक से पानी निकलने लगता है। भले ही अपनी तुलना में मेरे पापी मन को दुर्जनसिंह की जिंदगी मजे-मजे की लगती, लेकिन भीतर कहीं यह बात कील की तरह गड़ी रहती कि सचमुच उसका जीवन दिन-प्रतिदिन के संघर्षों की अनंत कथा है।

वह बताता - 'बाबू, मैं रोज सुबह चार बजे के पहले उठ जाता हूँ जब आसमान में पीले बादर भी नहीं होते। फिर गाय-भैंसों के सब काम निबटाकर नहाता-धोता हूँ। पूजा पाठ कर लेता हूँ। बच्चों को चाय बनाकर पिलाता हूँ और तब दूध, दही, मठा लेकर साइकिल पर निकल जाता हूँ फेरी के वास्ते। आठ-साढ़े आठ तक लौटकर खाना बनाता। खुद खाता। उन्हें स्कूल छोड़ता। फिर दो घरों में फटाफट खाना बनाता और दफ्तर आ जाता। तीसरे बच्चे की डिलेवरी में ही औरत मर गई। मासूम बच्चों का मुँह देखा और दूसरी शादी का मन नहीं हुआ। बगल में ही बहिन बहनोई रहते हैं। बच्चों को सँभालने में उन लोगों ने बड़ी मदद करी। भगवान कभी उनके काम आ सकूँ तो जीवन सकारथ होय। मैं कहता न बाबू कि सकल जिनगी माया का धुआँ-धुआँ है। कुछ सुझता नहीं लेकिन आफत आन पड़ी सिर पे तो रोने से का होय, चित्त थिर कर चलते चलो तो पैरों के आगे अपने आप रस्ता खुलता जाता है जैसे काल केंचुल छोड़ रहा है। सब कुछ आगे बढ़ रहा है। चलते चलो नहीं तो तुम पीछे छूट जाओगे। काल आगे ही नहीं, पीछे भी है। रुक गए तो उसके ग्रास बन जाओगे, सो चलना ही चलना तकदीर में है, भागोगे कैसे और कहाँ, चहुँ ओर धुआँ ही धुआँ...'

वह अक्सर टुकड़ों में बताता रहता कि शाम को फिर दूध दही का काम निबटाकर खाना बनाता। बच्चों को खिलाता और चार जगह खाना बनाकर घर लौटता तो पिंडली-पिंडली दुखती। नसें भीतर ही भीतर खिंचती। ऐसा लगता जैसे शरीर को कोई पूरब और कोई पश्चिम दिशा में खींच रहा है। धीरे-धीरे नींद हावी होती जाती। मैं बेसुध सो जाता जैसे घर न हो बिना हदों का कोई मैदान है... सूना, सुनसान, निष्प्राण...।

'...बहिन ने चार दिन समझाया, बहनोई अब तक समझाता। दूसरे नाते रिश्तेदार सभी। लेकिन दूसरी शादी का मन नहीं हुआ। मेरी औरत बहुत सीधी थी, एकदम गाय। न उसने कभी कुछ कहा, न कभी कुछ माँगा जो दिया, उसी में घर गृहस्थी

चलाई। बस अक्सर ऐसे बोलती जैसे दिन में दिन सपना देख रही हो, घिघियाई आवाज में विनती करती कभी मुझसे और अक्सर अपने भगवान जी से कि बड़े लड़के को इंजीनियर बना देना। लड़की को डॉक्टरनी और तीसरे लड़के को क्या बनाना, इस बारे में उसकी अक्कल जवाब दे जाती, उसे कुछ नहीं सूझता, केवल यही बर्राती रहती कि उसे भी बड़ा साब बना देना। बस ऐसा ही ध्यान रखना। लेकिन भूलकर किसी को चपरासी की जून न देना। इनकी हालत देखी। रोज बैल से जुटे रहते हैं तब भी पार नहीं लग पाता। मैं गाय-भैंसों की सानी बनाता उसकी बातें सुनता रहता और जब कभी ज्यादा पगलाती हो उसे डाँट देता। लेकिन उसके मरने के बाद उसकी इच्छाएँ मेरे मन में घर कर गईं। बस हमेशा बच्चों की पढ़ाई के पीछे पड़ा रहता हूँ। कर्ज भी लेना पड़े तो लूँगा लेकिन उसके मन की बात भगवान सुन ले, खाली न जाने दूँगा। ऊपर या अगले किसी जनम में कभी मिली और उसने जो पूछा कि राजेस के बापू, क्या किया राजेस का, सरमिला का और पिरदीप का? तो क्या जबाव दूँगा...?'

फिर वह बताता कि अब तो कह सकता हूँ कि राजेस इंजीनियर हो गए। सरमिला डाक्टरी पढ़ रही है। अपने पिरदीप भी लेन में लगे है। चिंता मति करियो री।

उसके कष्टों को सुनकर मुझे दुख होता लेकिन उसकी आवाज में लड़खड़ाहट तक नहीं होती। एक अजब गहन गंभीर धीरज और कहन में तटस्थ ठहराव जैसे किसी मेले ठेले का हाल सुना रहा हो। कहीं दया की भीख नहीं। कोई तरस नहीं। कुछ बड़ाई नहीं। सिर्फ एक अभंग जो कोई सुना रहा है। दुख में भीगा और किसी रोशनी में चमकता-तपता और अनाम आनंद में डूबता-उतराता। फिर भी कहीं कुछ ऐसा था जो मेरी छाती में गड़ता गड़ता कुछ अधिक गड़ जाता। यह मेरी समझ में नहीं आता। और इस असमंजस और परेशानी में मेरा रोना कुछ ज्यादा बढ़ जाता। इसमें अपने हाल ही शामिल होते। बड़ा लड़का बी.कॉम. पास कर चुका है। कंप्यूटर भी सीख गया है। बड़ी होशियारी से कंप्यूटर की बातें बताता है लेकिन नौकरी का कहीं कोई जुगाड़ नहीं हो पा रहा है। दो चार लोगों से कहा। साहब से भी एक दिन गिड़गिड़ाया लेकिन हाथ कुछ न आया। जब बड़े का यह हाल हो रहा है तो बाकी तीन संतानों का क्या होगा? यह चिंता मुझे भीतर ही भीतर खाए जाती। बार बार नाक में पानी भर जाता। मैं सोचता कि दुर्जनसिंह ने मेहनत की। ठीक किया। किंतु परिस्थितियों ने भी उसका साथ दिया कि

नहीं? विशेष पिछड़े वर्ग का होने से लड़के को मुंबई के इंजीनियरिंग कॉलेज में और लड़की को दिल्ली के मेडीकल कॉलेज में प्रवेश मिल गया। स्कालरशिप भी मिल गई। चपरासी के बच्चे थे सो रहन सहन, जीवन-स्तर तो था नहीं, किसी तरह गुजारा कर लिया। दुर्जनसिंह दूध-दही के धंधे से और चार घर खाना बनाकर, अपना पेट काटकर उनको पढ़ाता रहा। ठीक हैं उसके उद्यम को मैं छोटा नहीं लेखता, उसकी मेहनत रंग लाई, भगवान ने भी सुनी, सरकार ने भी मदद की। लेकिन मेरा क्या? मेरा कौन सहारा? मेरा मन रो रो पड़ता। घर में हरदम अभाव। खींचतान मची रहती। सबकी अपनी माँगें। शौक। कैसे पूरा करें। एक कमाने वाला। छह खाने वाले। और सभी के दिमाग चौथे आसमान पर। बस दिन मुझे खींचे जा रहे थे और मैं उनके साथ रोता-झींकता चला जा रहा था जैसे विधाता के हाथों में मैं कोई रबड़ का कोई खिलौना होऊँ। अब अपनी व्यथा-कथा क्या क्या सुनाऊँ राम... ऐसी करी विधाता कि कुछ अपने हाथ नहीं रहा। बस पिटते के साथ पिटता गया, कोई तारणहार न आया...।

जिस दिन दुर्जनसिंह ने बड़े लड़के के पास होने की और नौकरी लग जाने की खबर सुनाई, उन दिन पेड़ा बाँटते उसके हाथ थरथरा रहे थे और उसकी शर्माती संकोची आँखों के ऊपर भाल पर अंकित लाल चंदन का टीका दिपदिपा रहा था। मैंने भारी मन से पेड़ा खाया। बच्चे को आशीष दिया और नाक पोंछने लगा।

फिर कुछ समय के अंतराल से उसने अपनी बिटिया के डाक्टर हो जाने की मिठाई बाँटी। मेरा मन भुक्का मारकर रोने का हुआ लेकिन किसी तरह खुद को सँभाला। नाक से पानी बदस्तूर बहता ही रहा।

अक्सर वह बड़े ठहरे मन से बोलता - 'बड़े बाबू, ऊपर वाले ने बड़ी किरपा की। खूब निभाया। वह भी सुरग में बैठी खुश हो रही होगी। अब उसके पास भी कहने को क्या बचा? ज्यादा खुस होती थी तो नई दुल्हन सरीखी लजाती थी। भीतर भाग-भाग जाए। अब भगवान के दुआरे बैठी है। कहाँ भागेगी। मेरा ही इंतजार करती होगी। बड़े बोल से भगवान बचाए पर मैंने भी खूब कर लिया। एक ही बचे पिरदीप सो पॉलीटेकनक डिपलोमा में पहुँच गए हैं। बड़े भाई की तरह इंजीनीरंग में नहीं जा पाए। क्या है कि कामपटीसन बढ़ गया है। दुखी हो रहे थे। मैंने कहा बेटा मन मत मार। भगवान इसमें

भी बरक्कत देगा। बिद्या हर हालत में मदद करती है। इसके उजियारे की छाँह गह कर बढ़ता चल, पढ़ता चल। तीनेक साल में पार लग ही जाएगा। प्रभु भली करेंगे।'

ऐसा नहीं रहा कि दुर्जनसिंह मेरे दुख को नहीं जानता था। उसने जिंदगी में इतने दुख देखे थे कि वह उन्हें जुबान पर आने के पहिले ही आँखों के भीतर से पहिचान लेता था। उसकी बूढ़ी हो रही नजरें दूर खड़े आदमी को देखने में भले ही समर्थ न हों लेकिन पास बैठे दुख को बखूबी देख लेती थी। फिर वह मेरा हमेशा हमदर्द ही रहा। अक्सर कहता। 'आपको क्या समझाऊँ बड़े बाबू, आप तो पढ़े लिखे, अँग्रेजी जानने वाले। विधाता ने सब भांति झोली भरी। धीरे-धीरे आपकी नैया भी पार लगेगी। वह ऊपर वाला सबको एक आँख से देखता है। उसके दर पर देर भले हो, अंधेर किसी विध नहीं। हौसला रखो। सब ठीक होगा...।'

लेकिन इधर कुछ दिनों से अब वह अपने बेटे बेटियों की बातें नहीं सुनाता। कुछ उद्विग्न सा रहता। कभी-कभी एकदम चुप जैसे काल ने काटा हो। यहाँ वहाँ से ही पता चला कि बड़ा लड़का किसी मल्टीनेशनल कंपनी की नौकरी में अमेरिका चला गया है। उसका साल-छह माह में अँग्रेजी में ग्रीटिंग कार्ड भर आ जाता है। लड़की ने चंड़ीगढ़ में किसी धनाढ्य सहपाठी से शादी कर ली है। गैर जाति का है। दोनों कोई बड़ा नर्सिंग-होम चला रहे हैं। अब दुनिया ही बदल गई। फिर कुछ लाज शरम और शायद इसीलिए कभी इधर नहीं आती। कभी कभार कुछ पैसे बाप को भेज देती है। पर दुर्जनसिंह भी दिमाग का टेढ़ा है। बेटी के नाम से सहकारी बैंक में खाता खोल रखा है। जो पैसा आता, उसी खाते में जमा कर देता। पासबुक संदूक में बंदकर फिर अपने गाय-भैसों की सानी बनाने में जुट जाता।

मेरा मन कभी कभी छेद के भेद लेने में रस लेता। लेकिन बड़ी निस्संगता और लापरवाही से उसी आध्यात्मिक रपटती भाषा में वह कहता।

'...बड़े बाबू, कहता था न कि सब धुआँ-धुआँ ही है। इसकी धुंध में काल किसको कहाँ ले जाए। कौन कब खो जाए। क्या हो जाए। क्या किसी को पता चला है? अब जिसने जो किया। सो किया। अपने तईं ठीक किया होगा। मैं कौन उँगली उठाने वाला। अनपढ़ मूरख गँवार लेकिन दुख होता है। होता है तो मन को समझा देती है। कौन? अरे वही

मूरख। मुझसे भी ज्यादा गँवार। ऊपर बैठी बैठी कहती है। परेसान न हो राजेस के बाबू, अब जैसे ही पिरदीप को नौकरी लगे, सब छोड़कर यहीं चले आओ। सरग में तुमारे लिए भी जगह छेंक रखी है मैंने। मन छोटा न करना। बेटे को बड़ा करना और जल्दी आना। ...अब मूरख ग्यानवती मुझे समझाती है। अरे नौकरी क्या पेड़ पर उपजती है कि राजेस के बापू ने झराई सो टप्प से झोली में आ गिरी। कामपटीसन बढ़ गया है। नौकरी की मारामारी महामारी जैसी फैल रही है। बच्चे मेहनत से पढ़ते है लेकिन भाग ने कपाट बंद कर रखे हैं तो क्या होगा। वही है कि धुंध में चलते रहो। धुआँ में लट्ठ घुमाते रहो, प्रभु ने चाहा तो किसी दिन भाग की मुड़ पर घल ही जाएगी। लेकिन कब? इतनी देर और अंधेर है कि मन रह रह कर घबड़ता है पर बड़े बाबू, विपरीत हवा है, पाँव जमाए चलना। प्रभु भली ही करेंगे...।'

क्या खाक, पाँव तो उखड़ चुके हैं। इस बावले को मेरे घर के हालात क्या मालूम। बड़ा बेटा बी.कॉम. और कंप्यूटर की डिग्री सिर पर धरे गली-गली के फेरे लगाते रहा लेकिन प्रभु ने भली नहीं की। हारकर आठ सौ रुपया प्रतिमाह पर कंप्यूटर-टाइपिंग की एक दुकान में नौकरी करने लगा। सुबह नौ बजे जाता तो रात के ग्यारह बजे तक लौटता। उसने बताया कि मालिक रसूखवाला है। दुनिया भर के दफ्तरों से टाइपिंग का काम आता है। दुकान में पंद्रह-बीस लड़के लगा रखे हैं। मानो टाइपिंग की फैक्टरी खोल रखी है। रात-दिन काम होता है मैंने उसे बताया कि श्रम-नियमों के प्रावधानों के मुताबिक किसी भी कर्मचारी से आठ घंटे से अधिक काम नहीं लिया जा सकता है जिसमें आधा घंटा खाने की छुट्टी देना अनिवार्यतः आवश्यक है। उसने हँसकर मेरी ओर देखा जैसे किसी गावदी को देखा हो। बोला कि कहाँ की बातें करते हो आप। ये चोंचले वहाँ नहीं चलते। वहाँ तो लाईन लगी है। एक हटे तो दस खड़े घिघिया रहे हैं। दोस्त का मामा है सो तरस खाकर और जताकर नौकरी दी है उसने। मैं चुप रह गया। उसका चेहरा देखता रह गया। जवाब क्या दे सकता था भला! लेकिन मन मुरझाकर रह गया। जवानी में क्या हालत हो गई है इसकी। छोटे से मुँह पर बड़ा सा चश्मा। गहरी उदासी और निराशा की छाप। मनहूस और घुन्ना। बहुत बुरा लगा।

लेकिन उससे भी अधिक बुरा लगा दूसरे बेटे को देखकर। नौकरी तो उसकी भी नहीं लगी लेकिन उसे इस बात का रत्ती भर मलाल नहीं था। खटकने वाली खास बात यह

थी कि उसकी दिलचस्पी के दायरे कुछ अलग ही थे। वह सबको हिकारत की नजर से देखता और कमीनगी के किस्से सुनाने और हरामीपन की बातें करने में उसे विशेष आनंद आता जो चेहरे पर दबंग निर्लज्जता के साथ छलक छलक पड़ता। उसके तईं सज्जनता बेवकूफी, विनम्रता, दब्बूपन, धोखा-धड़ी होशियारी, छल-कपट प्रशंसनीय और धौंस-डपट आदर्श मूल्य थे। रह रहकर वह हँसता। अपनी या दूसरों की नीचता की बातें गौरवपूर्ण ढंग से बखानकर मन-मुदित होता। और यह सब को जताता हुआ खुश होता। उसकी आँखों के उन भावों को देखकर मैं भीतर ही भीतर दहल जाता। यह लड़का न जाने किस नर्क की ओर जा रहा है और किसी में भी उसे रोकने की हिम्मत नहीं!

ऐसे ही रोते-कलपते और आशंकाओं में दहलते-धड़कते दिन गुजर रहे थें लेकिन एक बात देखी। दिनों-दिन दुर्जनसिंह चुप और चुप होता जा रहा था। कारण पूछने का बहुत मन करे लेकिन हमारी ही दुर्दशा चारों ओर से हो रही थी। अब अपनी ढाँकें कि दूसरे की पूछें। इसी उहापोह में बुरे वक्त के साथ-साथ हम भी चल रहे थें उन्हीं दिनों वह किस्सा हुआ जो मैं आपको बताने जा रहा था लेकिन अपने दुखों का रोना लेकर बैठ गया।

उस दिन हुआ यह कि साहब जल्दी घर चले गए। मैं उनके ही किसी काम से ऊपर लेखा-कक्ष में गया हुआ था। लौटा तो देखा कि साहब जा चुके थे और चेंबर में कई फाइलों के ढेर के सामने दुर्जनसिंह कुछ कागज हाथ में लिए दूसरे हाथ से सिर खुजा रहा था। मुझे देखते ही मेरी ओर लपका और बोला कि इन फाइलों के डिकटेसन पूरे कर लियो और साहब कह गए हैं कि जिन कागजों में जहाँ निशान लगे हैं, वहाँ करपसन कर लो और मुझे कल दस बजे दिखाना। यानि रात नौ बजे तक की फाँसी। दूसरे दुर्जनसिंह जो कागजात बता रहा था ओर जो कैफियत दे रहा था, वह तो बिल्कुल पल्ले नहीं पड़ी। उन कागजों में कंप्यूटरों की खरीद का हिसाब-किताब था, उनमें कई जगह पेंसिल से निशान लगे थे। इनमें किस प्रकार करप्शन किया जा सकता है? साहब का मंतव्य क्या है? बड़ा घुटा अफसर है। क्या करवाना चाहता है मुझसे? मरवा देगा क्या? करप्शन के केस में कहीं फँस गया तो मेरा सर्वनाश ही हो जाएगा। धरती डोलने लगी। हाथ-पैर ठंडे पड़ गए। न करूँ तो मुश्किल। समयावधि

का काम है और साहब का हुक्म। समझ में कुछ आ नहीं रहा। कल खाली हाथ कागज लेकर उनके सामने जाऊँगा तो वह राक्षस हाथ घुसेड़कर पूरे प्रान ही निकाल लेगा। अजब झंझट में फँसा मैं। भरी ठंड में पसीना आ गया। फिर मन में जुगत भिड़ाई कि बाकी सभी फाइलों का डिक्टेशन-वर्क पूरा कर लो और तड़के नौ बजे के करीब साहब के बंगले पर पहुँच कर हाथ जोड़कर निवेदन कर डालो कि साहब, प्रकरण में साहब की हिदायतें मिल जाएँ तो अभी बिल्कुल एक घंटे में हजूर पूरा कर साहब की टेबिल पर ठीक दस बजे ये नोट भी प्रस्तुत कर दूँगा साहब। इस बता से मन को ढाँढ़स बँधा। जल्दी-जल्दी फुर्ती से काम निबटाया। ग्यारह से कुछ ऊपर ही बज गए थे रात के। सब घर चले गए थे। खाली दफ्तर भी डरावना लगता है, ऐसा लगा और पहली बार लगा। चौकीदार को चाबी देकर फौरन जान छुड़कर घर को भागा।

उस छोटी पहाड़ी पर आभिजात्य बंगलों की श्रृंखलाबद्ध कतारें हैं जिनके आस-पास कोई शोर, गुल-गपाड़ा नहीं होता। इनसानी हँसी पर सख्त मुमानियत है। एक अजीब मुर्दनगी इस बस्ती में रहती है। अधिकतम कारें-जीपें निकलती रहती हैं लेकिन हार्न कम ही बजते हैं, जैसे शव-यात्रा में शरीक हों। लोग दबे पाँव चलते हैं,उनमें ज्यादातर नौकर-चाकर और बाबू स्तर के होते हैं। कुछ संभ्रांत हतभागी बूढ़े शाल ओढ़े पुराने दिनों में सिर घुसाये या चेहरे की निरीहता छुपाए बगल से उदास गुजर जाते हैं। अक्सर एक-दो स्त्रियाँ सलवार कुर्ता और मर्दाने जूते डांटे फर्राटेदार अँग्रेजी में डपटते हुए बातें करती तेजी से निकल जाती हैं। बाकी होते हैं सुबह की नित्यक्रिया को निबटाने के उपक्रम में छोटे-मोटे अजीबो-गरीब कुत्ते जो अपने नौकरों को साथ लेकर यहाँ-वहाँ सूँघते घूमते हैं जिन्हें देखकर देशी कुत्ते कभी खुशामद भरे मैत्री भाव से और कभी नितांत अख्खड़ तबियत से भौंकने लगते हैं। बंगलों के कुत्ते उन्हें अधखुली आँखों से लापरवाही से देखते हैं और डरकर सिटपिटाए जमीन में गड़कर ढेर सारा मूतने लगते हैं। ऐसे समय उनके नौकर सजग हो जाते है और देशी कुत्तों के साथ इस कदर बेरहमी से पेश आते हैं कि देशी कुत्ते दुम छोड़कर अपने ठिकानों की तरफ किकियाते हुऐ दौड़ लगा देते हैं। उन दुमों को विजय-पताका की तरह लहराते हुए नौकर बंगलों में लौटकर तब तक डाँट खाते हैं जब तक वे उन दुमों को अपने पीछे नहीं सजा लेते।

विशाल आलीशान बंगलों के सुरुचिपूर्ण आकृति और प्रकृति वाले लॉन अमूमन वीरान और उदास पड़े रहते हैं। फूल-पत्तियाँ चुप। हवा शुष्क। और फिजा मनहूस। बाहर दबंग कुत्ते खुले घूमते हैं। भीतर साहब लोग बँधे रहते हैं। भीतर से बाहर कभी-कभी उनकी चप्पलों की हल्की आहटें या एक दो आधे-अधूरे शब्द या वाक्य ही सुनाई पड़ते हैं, वह भी तब जब ध्यान लगाकर सुना जावे वरना केवल मेम साहबों की ऊँची तेज तीखी ओर तल्ख आवाजों और कर्कश निर्देशों का मलबा कमरों के अर्श-फर्श पर टूट-टूट कर गिरता रहता है।

जब मैंने गेट के बाहर साइकिल टिकाई, सुबह के नौ बज रहे होंगे। सर्दी शुरू होने के मौसमी संकेत यहाँ-वहाँ दिखने लगे थे। बंगले में भीषण निस्तब्धता थी। जैसे अभी-अभी यहाँ से ताजी मैयत हटाई गई हो। माली लॉन में गुलाब की क्यारी गोड़ रहा था। गुलाम अली ड्राईवर कार पोंछ रहा था। बीच-बीच में वह कार के बोनट के अक्स में अपना चेहरा देखता। उसके तेजी से चलते हाथ शिथिल हो जाते जैसे नदी की धार में कोई पत्थर धीरे-धीरे डूब रहा है। मुझे देखकर वह हँसा। उसी के पास भरोसी खड़ा था जो भीतर से कचरे की टोकरी बाहर फेंकने के लिए निकला था लेकिन अली से बाते करने में उसका मन लग गया था। वह जितना फुसफुसाकर बोल रहा था, उतने ही भेदिया अंदाज में आँखें नचा रहा था और इस हरकत में उसके शरीर के बाकी अंग भी उसी नीचता से शामिल थे। वह भी हँसा। मैं भी हँसा। यद्यपि मुझे नहीं मालूम रहा कि मैं क्यों हँसा। ऐसे हँसा जैसे अपना बचाव किया। शायद उस वक्त मैं कोई आश्वस्ति ढूँढ़ रहा था। मैं हर जगह एक अपराधबोध में जाता हूँ, लगभग क्षमा याचना करता हुआ, कोई एक तसल्लीबख्श हाथ या आवाज या निगाह की भीख माँगता हुआ। बदले में डाँट-फटकार, दुत्कार और अपमान से लतपथ बदन और खिसियानी हँसी के बोझ से दोहरा होता वापस लौटता। यह अजाना अपराध-बोध इतना गहरा है कि मैं अपने घर की दहलीज में घुसते भीतर ही भीतर ठिठक कर सिकुड़ जाता हूँ, जैसे किसी कटघरे में ठेला जा रहा हूँ और अब मुझे उन तमाम आरोपों के सामने होना है जिनके उत्तर मेरे पास नहीं हैं और सवाल समझ के बाहर। घर की चौखट पर मँडराती ठंडक भी दुख नहीं हरती बल्कि ठंडे मरहम सी जलती ओर चिलकती है।

लेकिन वे क्यों हँसे, यह मुझे नहीं मालूम। यकीनन वह स्वागत की हँसी या सौहार्द भरी आत्मीय नजर नहीं थी बल्कि उनमें हमेशा की तरह एक कमीना कौतुहल था। इसी बंगले में बड़े पापाजी डिक्टेशन के दौरान मेरी जो दुर्गति बनाया करते थे, ये लोग उन प्रसंगों के चश्मदीद गवाह थे। पूरे समय बेशर्मी से हँसने के बाद बाकी वक्त इन्हीं लोगों ने चटखारा लगाकर अनंत दिशाओं में मेरी तकलीफ और जलालत के किस्सों का बेहूदा प्रचार बखूबी किया था। जबकि वे सभी चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी थे और मैं उनसे कई ग्रेड ऊपर था। बड़े साहब का पी.ए. और स्टेनो था। मैं जब उनकी मासिक उपस्थिति सत्यापित करता तभी उनको तनख्वाह मिल पाती। लेकिन इन सब बातों को वे तवज्जो नहीं देते, बल्कि दफ्तर में शेर की तरह आते और मेरे सिर पर खड़े होकर अपने सब काम करा ले जाते। मेरे पहले द्वारिका बाबू साहब के स्टेनो थे। वे जब टेढ़ी नजर से देखते तो यही सब साले एक पोंद से हगने लगते। लेकिन मुझे कुछ समझते ही नहीं। शायद मुझमें ही खोट है। मेरी पत्नी तक कहती है कि हर कोई मुझे दबा लेता है। शायद यह सच ही है। मैं तो अब अपने बच्चों से भी जोर से नहीं बोल पाता। वे ही मेरे ऊपर गरजते-बरसते रहते। क्या करूँ। मेरे दुख अनेक हैं। किससे कहूँ, कहाँ जाऊँ, किसको बताऊँ!!!

कचरे की बॉल्टी झुलाते हुए भरोसी बोला - 'आ ये बड़े बाबू, सबेरे सबेरे?'

मैं उसे आने का प्रयोजन बता आता, मेरे खँखारकर गला साफ करने के पहिले ही अली बोला - 'अबे, सरकारी काम होगा, साहब को बता दे।'

'साहब को सबेरे-सबेरे लोगों से मिलना पसंद नहीं... भरोसी आँखें नचाकर और लगभग घूरते हुए बोला... दो लोगों को अभी तक भगा चुका हूँ। उनमें एक बड़ा टाई-सूट डांटे था। मैंने कह दिया जाओ दफ्तर में। बंगला में नो टाईम। कहने लगा कार्ड रख लो। मैंने कहा खोंस लो भीतर। इतना सा मुँह हो गया। पिछवाड़ा हिलाता फौरन सटका। उन्हें भगाया, अब तुम आ गए, क्यों...?'

मैं खून का घूँट पी कर रह गया। बस किसी तरह बता पया कि जरूरी काम है। साहब को इत्तला कर दो और उल्टी हथेली से नाक पोंछने लगा।

'...बता दिया न कि साहब को पसंद नहीं। पर टलते नहीं, तो कह देता हूँ साब से। साहब फाड़ें तो मेरी कोई जुम्मेदारी नहीं, समझे... यहीं खड़े रहना, भीतर शेरू भैया खुले हैं...'

बंगलों में साहबों के कुत्तों को भैया कहे जाने का रिवाज है। मुझे डर लगा। यह शेरू बड़े नीच स्वभाव का है। आदमी पहिचानता है। हम जैसे लोग आते हैं तो उछल कर सिर पर लपकता है और दूसरे बड़े लोगों के आने पर उनके पैर चाटता है। आजकल कुत्ते भी इतने होशियार हो गए हैं कि वे ऊँच-नीच, छोटा-बड़ा, जातिवाद, सांप्रदायिकता हम आपसे जल्दी और ज्यादा समझते हैं। अब खैर इसी में है कि उनसे बनाकर रहो। मैं थोड़ा जमीन में धँसकर खड़ा हो गया।

मैला कपड़ा निचोड़ता हुआ अली बोला - 'साला, दिन भर भीतर चप्पलें खाता है, बाहर भभकी देता है। कमीना इतना है कि हगते को मारे। दरअसल जनाब हम गरीब लोग ही एक दूसरे को काटते हैं। एक दूसरे को जलील करते हैं जबकि जिन लोगों को वाकई जलील करना चाहिए, उनके हियाँ दुम हिलाते हैं... बुरा मत मानिए...। बरामदे में आराम से बैठिए... आप तो भले आदमी हैं... हाँ, बड़े बाबू, मेरे बेटे नजीर की दरखास्त पर मेहरबानी रखियो, साहब से अर्ज कर रखी है... उम्मीद है कि काम हो जाए...' उसकी आँखों में क्षोभ भरा हिलता अविश्वास था ओर चेहरे पर तिरस्कार की सूखी हँसी लेकिन बाहर निकले हुए बड़े-बड़े पीले दाँतों से निरीहता झर रही थी। वह एक प्रार्थना थी लेकिन कितनी अजब, घृणा भरी और लगभग गाली देती हुई!

तब तक भरोसी ने बरामदे से मुझे आवाज दी और मैं लपक कर पहुँचा। भीतर से झल्लाते हुए साहब निकले। वे लाल-पीले फूलों और काली चिड़ियों वाला लंबा तथा फूला हुआ गाउन पहिने थे, मुझे विचित्र जान पड़े। जैसे साहब के भेस में कोई दूसरा गोरा गंजा मजेदार आदमी हो। लेकिन जब उन्होंने बहुत तीखी सवालिया नजरों से मुझे घूरा। मैं जमीन पर धड़ाम से मिरा और मेरी घिग्घी बँध गई। किसी तरह हिम्मत बटोर कर उन्हें कागज दिखाया और दुर्जनसिंह की बात बताई। वे पहिले थोड़े अचकचाए और फिर ठठाकर हँस दिये। उनके साथ मैं हँसने लगा। मुझे लगा, मैं संकट से उबर गया हूँ। मैं विनीत भाव से पैरों की ओर झुकता हुआ खड़ा रहा। साहब ने नई सिगरेट जलाई और मोबाईल पर किसी को यही किस्सा हँस-हँस कर बताने लगे। बीच बीच में ब्लडी ब्लडी बोलते। फिर मोबाईल बंद कर आनंदित आँखों से मुझे देखा

और उतनी ही हिकारत से कहा - 'ब्लडी-फूल, मैंने करेक्शन... करेक्शन के लिए कहा था बेवकूफ। टेंडर अप्रेजल रिपोर्ट देखकर करेक्टेड आँकड़े भर दो... स्साला...' वे फिर हँसे। उठते हुए कहा - 'गेट लॉस, ठीक 11 बजे मेरी टेबिल पर टाईप्ड नोट रख देना...' और भीतर चले गए।

मैं हँसता हुआ बाहर आया। वाकई दुर्जनसिंह 'ब्लडी-फूल' है। अर्थ का अनर्थ समझ लिया। भला हो साहब का कि हँसते हुए सब निपटा लिया। बड़े पापाजी होते तो अभी दाएँ बाएँ दोनों ही कान खींचते। लेकिन अपने साहब में ऐसा कुछ नहीं। एकाएक मेरा मन उनके प्रति श्रद्धा-भाव से भर गया जिसमें कृतज्ञता भी शामिल थी। आँखें छलछला आईं। वाकई मैं बाल-बाल बच गया।

गाड़ी के पास खड़े उत्सुक अली ने पूछा 'क्या हुआ?' मैंने हँसते हुए कहा - 'कुछ नहीं, दुर्जनसिंह ब्लडी-फूल है।'

अली निराश होकर बोला - 'सो तो है... लेकिन माशाअल्लाह आदमी गजब की कुव्वत वाला है...' और चुपचाप कार पोंछने लगा।

दूर भरोसी संशय में परेशान खड़ा था।

दफ्तर में यह किस्सा ऐसा फैला कि चौतरफा हल्ला हो गया। आम चर्चा और हँसी-मजाक का विषय बन गया। कुछ नौजवान उद्दंड बाबू एक दूसरे को ब्लडी फूल कहने लगे। एक किस्म से रोज का रिवाज ही बन गया। लोग किसी को चाय पीने के लिए भी आमंत्रित करते तो कहते कि चलो ब्लडी-फूल, चाय पी लीजिए। हालत यह हो गई कि दफ्तर के एक छोर से कोई जोर से नारा लगता - 'ब्लडी फूल sss'! दूसरी ओर से समवेत स्वरों की तोप छूटती - 'ब्लडी फूल' और साथ बाढ़ के पानी सी बहती आती भयानक हँसी सारे दफ्तर को जल-थल कर देती। या फिर बाज-वक्त कॉरीडोर में आते-जाते और दुर्जनसिंह के पास से गुजरते, आपसी बातचीत में ब्लडी-फूल को गाना सा गाते या मजे-मजे एक-एक पग धरते ब्लडीफूल कहते जाते। स्टूल पर बैठे दुर्जनसिंह का चेहरा अपमान से काला पड़ जाता।

साहब ने दूसरे दिन ही कह दिया कि यह आदमी मुझे सूरत से ही बेवकूफ नजर आता है। हटाओ इसे। किसी कचरे में ड्यूटी लगा दो। हुक्म की तामीली फौरन की गई। जब उसे आर्डर दिया गया, उसका चेहरा हाथ में पकड़े कागज की तरह सफेद था। लेकिन बोला कुछ नहीं और तेजी से वापस मुड़ गया।

जैसा कि पहिले बताया था कि दुर्जनसिंह टेढ़े दिमाग का आदमी है। यह एक बार फिर सिद्ध हुआ जब उस घटना के कुछ दिन बाद उसने सेवानिवृत्ति का आवेदन प्रस्तुत कर दिया। मैं हक्का-बक्का रह गया। कोई आदमी नौकरी छोड़ भी सकता है, इस बात की मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था। उसे लाख समझाया। ऊँच-नीच और दुनियादारी का सुलभ ज्ञान भी दिया। लेकिन वह पत्थर की तरह अड़ा रहा। एक अजब सूखी हँसी उसके चेहरे पर तैरती रही। इस हँसी की दरारों में गहरा विषाद, आस्था की टूटन तो थी लेकिन साथ ही साथ एक अखंडित आत्माभिमान और संतोष भी टेढ़े-मेढ़े कोनों से भरपूर झलक दे रहा था।

उसने एक ही बात सधे सुर में कही - 'बड़े बाबू, अब नौकरी करने का जी नहीं होता। हाड़ तोड़कर नौकरी की है। गुलामी की तरह। कई ऊँच नीच देखी और सही भी। कितने साहब लोग आए और गए कुछ ने इनाम भी दिया। कुछ ने नहीं दिया लेकिन भेरी गुड भेरी गुड कहा। पर जैसा अपमान इस बार मेरा हुआ है, वैसा कभी नहीं हुआ। कम पढ़ा लिखा हूँ, भृत्य हूँ। समझने में कभी-कभी गलती भी होती है लेकिन कभी कोई नुकसान नहीं किया। अब पूरे दफ्तर में मुझे ब्लडी-फूल, ब्लडी फूल कह कह कर मजाक उड़ाया जा रहा है। इनसान की कोई इज्जत नहीं। ...आदमी सिर्फ पेट की खातिर नहीं इज्जत के लिए भी जीता है। जहाँ लिहाज नहीं... इज्जत नहीं... वहाँ एक पल भी नहीं रहना। आज भी जाँगर में दम है। अपने खाने-पहिनने लायक कमा सकता हूँ। दो बच्चों को बड़े ओहदों तक पहुँचा दिया। अब पिरदीप भी पैरों पर खड़े हो रहे हैं। मेरी खुद की क्या जरूरतें। दूध दही के धंधे से और पेंशन से मेरा गुजारा हो जाएगा। किस बात के लिए मैं रोज-रोज का अपमान झेलूँ... हाय-हाय करूँ... ना जी ना ऐसी नौकरी नहीं करना...'

और वह उठकर चला गया। मैं जाते हुए उसको देखता रह गया। मैं सोचता था कि उसके इस्तीफे से दफ्तर में भूचाल आ जाएगा। कर्मचारियों में गर्मागर्म चर्चाएँ होंगी।

उसे मनाने के समवेत प्रयास होंगे। साहब भी उसे बुलाकर समझाएँगे। लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। किसी के माथे पर शिकन तक नहीं आई। किसी ने कुछ नहीं पूछा। उसका इस्तीफा एक कागज की शक्ल में उसकी फाइल में लग गया। रोजमर्रा की तरह फाइलें चलीं। साहब के हस्ताक्षर हुए। स्वत्वों का भुगतान हुआ। और दुर्जनसिंह भूतपूर्व कर्मचारी बन गया। उसके स्टूल पर छदामीलाल बैठने लगा। दफ्तर फिर ज्यों का त्यों चलने लगा। वही गहमागहमी। लेकिन मुझे गलियारे में सूना सूना लगता। कुछ ऐसी कमी जिसने इस दफ्तर को और अधिक बदशक्ल और असहनीय कर दिया है।

इधर मेरे घर के हालात दिनों-दिन गिरते चले गए। बड़े लड़के की नौकरी छूट गई। पूछो तो बताता भी नहीं। रोने लगता। पत्नी ने अकेले में समझाया कि ज्यादा कहा सुनी मत करना। न जाने कैसा उनका मन हो रहा है। अभी कल छत के पंखे से फंदा बाँध रहा था। मँझले ने देख लिया वरना अनर्थ हो जाता। मैं धक रह गया। उधर मँझला किसी इंटरनेट कैफे वाले दोस्त के साथ ब्लू फिल्मों की सीडी के फेर में फँस गया। थाना पुलिस के चक्कर लगे। बड़ी मुश्किल से जमानत पर छूटा। थानेदार ने जमानत के वक्त घुड़ककर कहा था कि साले को ठीक रखना वना अगली बार पाँच-दस साल के लिए अंदर जाएगा। लेकिन उसको इस बात की शर्म महसूस नहीं हुई बल्कि दाँव फेल हो जाने का अफसोस मनाता ओर बड़े काँइयाँपन से बताता कि अगर ऐसा कर लेता या वैसा हो जाता तो कभी फँस ही नहीं पाता। उसकी संगत भी खराब हो चली है। और गजब यह कि उससे छोटी लड़की ने तो नाक ही कटवा दी। वो तो मँझला उसे चोटी पकड़कर घर घसीट लाया वरना किसी टेंपो ड्राईवर के साथ मुंबई भाग रही थी और स्टेशन तक पहुँच गई थी।

इन दिन-प्रतिदिन के सदमों को मैं झेल नहीं सका। एक रात छाती में ऐसा दर्द उठा कि अस्पताल पहुँच गया। डाक्टर ने बताया कि दिल का दौरा पड़ा है। हालाँकि पहला है और मामूली। लेकिन दूसरा दौरा खतरनाक हो सकत है। ध्यान रखें। अब ध्यान क्या खाक रखूँ। मुसीबतें एक के बाद एक सिर पर चट्टानों की तरह गिर रही हैं। बचने का उपाय नहीं। भागने की जगन नहीं। दूर दूर तक कहीं कोई सहारा नहीं। आगे इतना अँधेरा कि डर लगता है। कहीं कोई उम्मीद, निजात नहीं। अभी उस दिन छोटा लड़का

बारहवीं की परीक्षा में प्रथम श्रेणी में पास होने की खबर लाया तो कभी अखबार देखकर और कभी उसे देखकर मैं रोने लगा। वह मुझे टुकुर टुकुर देखता रह गया और मैं रोता।

दिल का दौरा पड़ने के बाद पत्नी मेरे पीछे ही पड़ गई। डाक्टर की हिदायत के मुताबिक रोज सुबह मुझे घूमने के लिए भेजने लगी। जिंदगी भर सुबह नहीं उठ पया लेकिन अब डर के मारे बड़ी सुबह उठता। सिर पर कनटोपा और मफलर बाँधकर घूमने निकल जाता। लेकिन घुमने के पूरे वक्त वही दिन रात की चिड़चिड़ और चिंताएँ मुझे खाए जातीं।

ऐसी ही एक सुबह जब मैं डॉ. नवाथे की कोठी के पीछे से नजर-बाग की ओर जा रहा था, मुझे चिरपरिचित आवाज सुनाई दी।

'...दही लो s...s...s... मही लो s...s...s...और s...s...s... दूध s...s...s...' फिर एक आवाज। उसके साथ फिर एक अलग आवाज। सामने दुर्जनसिंह था। मैं खुश हो गया जैसे बहुत दिनों बाद कोई पुराना प्रिय दोस्त मिला हो। मैं लगभग दौड़कर उसकी साइकिल के करीब हो गया और हैंडिल पकड़कर खड़ा हो गया। दुर्जनसिंह साइकिल से उतर चुका था। उसने बहुत झुकते हुए मेरा अभिवादन किया और पीछे मुड़कर कहा - 'पाँव छुओ, बड़े बाबू के। भाग खुले जो सुबह-सबेरे बड़े बाबू के दर्शन हुए।'

पीछे दूसरी साइकिल पर उसका बेटा प्रदीप था। दोनों की साइकिलों में भांति भांति के डिब्बे और केनें टँगीं थी। प्रदीप मजबूती से अपनी साइकिल थामे हुए था और पिता की साइकिल को टेक दिए था। न जाने क्यों मुझे दुर्जनसिंह ज्यादा स्वस्थ और सुंदर लगा। मैंने कनटोपा उतार लिया और सिर खुजाने लगा।

'कैसे हो भइया...' यह मेरी कैसी आवाज... गले में अटकी, अजनबी और फटी सी...।'

'बड़े बाबू, भोलेंटरी रिटायर लेके अच्छा ही किया। पिरदीप पॉलीटेकनक तो अच्छे नंबरों से पास हो गए लेकिन नौकरी नहीं मिली। बेचारे ने खूब चक्कर लगाए। मगर कुछ न हुआ। मैंने कहा अरे नौकरी के पीछे टेम खराब ना कर। मैंने खूब नौकरी कर के देख ली। नौकरी में बरक्कत नहीं है। गुलामी है। तू जी छोटा मत कर, कुछ नहीं तो

अपने घर का धंधा सँभाल। काम कितना भी छोटा हो, मेहनत से तरक्की होती है। पहिले तो हिचकिचाया। पीछे हटा। अब नए जमाने के पढ़े-लिखे लड़के है न। हाथ के काम को अच्छा नहीं मानते। लेकिन फिर समझ गया। फंड के पैसे मिले तो मैं चार भैंसें और खरीद लाया। घर में ही दूध दही और डबलरोटी की दुकान खोल ली है। सबेरे दूध दही की फेरी और दिन भर दुकान। डेरी की गुमटी की जुगाड़ भी चल रही है। पिरदीप हुसयार और मेहनती है। हफ्ते में दो चक्कर बेरछा मंडी से मावा ले आता है। चार-पाँच होटल बँध गए हैं। अच्छा चल रहा है बड़े बाबू...'

उसकी आँखें चमक रही थी। लड़का निस्पृह भाव से खड़ा था। कुछ बोल नही रहा था। बस बीच-बीच में घड़ी देख लेता। मैं दुर्जनसिंह की साइकिल का हैंडिल पकड़े उसी तरह खड़ा था जैसे बचपन में अपने पिता के पास खड़ा हो जाता था।

'...उस दिन वह घटना न हुई होती तो शायद मैं भी जिंनगी से इतनी हिम्मत से न जूझ पाता और ये दिन न आते। पिरदीप तो कहता है कि पापा घर बैठो। सेहत का ध्यान रखो। लेकिन मैं कहता कि मैं दुर्जनसिंह अभी दस साल तक इसी तरह चलता रहूँगा। ऊपर से भी आवाज आती कि आ जाना आ जाना, अभी जल्दी क्या है... लेकिन बड़े बाबू आज तो जल्दी है। फिर कभी सीधे घर ही आऊँगा। चाय भी पियूँगा और दुनिया जहान की बातें करूँगा। अभी चलता हूँ...'

वह साइकिल पर चल दिया। पीछे मोड़ से सुबह को चीरती एक अलग और बुलंद आवाज साफ-साफ सुनाई दी - '...दही लो ऽ...ऽ...ऽ... मही लो ऽ...ऽ...ऽ...और ऽ...ऽ...ऽ... दूध ऽ...ऽ...ऽ...।' यह आवाज बरसों पहिले सुनी गई दुर्जनसिंह की आवाज से कुछ अलहदा थी, मिली-जुली ओर मथी हुई लेकिन भरी-भरी और भारी...।

बेमन से घर लौटा। चित्त में विचित्र सी खलबली मची हुई थीं नहाने-धोने और पूजा-पाठ का मन नहीं हुआ। पत्नि आशंकित हुई। किसी तरह समझा दिया। लंच का डिब्बा लेकर रोज की तरह दफ्तर को निकला।

लेकिन दफ्तर जाने का मन नहीं हुआ। साइकिल दूसरी ओर मुड़ गई। पब्लिक टेलीफोन से छोटे बाबू को कह दिया कि जरूरी काम है, दफ्तर न आ सकूँगा। ऐसा

कहने के पहिले दिल थोड़ा धुकधुकाया। साहब छुट्टी देना पंसद नहीं करते। पर मन को ठेल दिया। भाड़ में गए साहब, आज तो दफ्तर नहीं जाऊँगा। ... ना जी ना ... बस्स्...।

बिला वजह यहाँ वहाँ साइकिल घुमाता रहा। पोस्टर देखता रहा और फिर नजर-बाग की ओर बढ़ गया। बचपन से इसी बाग में खेलता-कूदता रहा हूँ। आज लगा कि जैसे फिर वापस आया हूँ। पार्क में खिलते गुलाबों की कतारों के साथ-साथ हरे घास के लंबे-लंबे कालीन बिछे थे। एक अच्छी जगह देखकर लंच के डिब्बे के झोले को सिरहाना बनाकर लेट गया। टाँगें फैलाकर जेसे ही ऊपर नीले स्वच्छ आसमान को देखा। परिंदों की चहचहाहटें सुनाई थी। परकोटा के प्रायमरी स्कूल की याद आई। घंटी बजने लगी। आँखें मुँद गईं। फिर बीते हुए तमाम दिन, तमाम लोग, तमाम जगहें याद आई। जैसे कोई फिल्म चल रही हो। बीच-बीच में किसी ट्रेन के चलने की और सीटी की आवाज आती। अपने छूट जाने का डर धकिया-धकिया कर घेरता। अजब हालत जैसे सपना देख रहे हैं और बूझ भी रहे हैं कि सपना देख रहे हैं। वे सभी दिखते जो कभी कहीं मिल या कहीं नहीं मिले। इन सब के बीच दूब से दूर आसमान तक फैलता दुर्जनसिंह दिखता। हँसता हुआ। हाथ बढ़ाता। मैं उसे देख रहा और जैसे दिमाग के टुकड़े-टुकड़े हो रहे हों फिर भी मैं एक इकाई बना अपने भीतर कहीं थिर हो गया हूँ। एक शांत लहर मुझे भिगो कर फिर वापस आ रही है। मैं उस नीम बेहोशी में डूबता चला गया।

जब कुछ ठंड लगी तो आँख खुली। सिर पर से धूप नदारत थी। फौब्बारे पर मुँह धोया और वापस चल दिया।

लौटते ढलान पर साइकिल अनायास चल रही थी। शरीर का वजन नहीं था। और न साइकिल का। मन हल्का था। यकायक मैंने एक हाथ उठाकर जो से आवाज लगाई -

'...दही लो s...s...s... मही लो s...s...s...और s...s...s... दूध s...s...s...' आवाज गूँजी। राह चलते एक दो लोगों ने चौंक कर देखा। मैंने जोर से फिर वही आवाज लगाई। अब किसी ने नहीं देखा। पुलिया पर एक आदमी बकरी को बदस्तूर पत्ती खिलाता रहा।

हवा हल्के-हल्के चल रही थी। मैंने दबाव देकर भर ताकत दो चार पैडिल मारे। साइकिल को फुल स्पीड में छोड़ दिया। हैंडिल पर से दोनों हाथ हटाकर पूरे गले से हूपिंग करता हुआ ऐसा कुछ चिल्लाया जैसा अक्सर बंदर संभव डाली से असंभव चट्टान पर छलाँग लगाने के पहिले बुलंद किलकारी भरते हैं।